बस ज़रा सिर पर हाथ रख देना...

प्रतिभा कटियार

उस रोज़ स्कूल से लौटते हुए मेरा मन इतना बेचैन था कि कुछ सूझ ही नहीं रहा था। बेचैनी इतनी ज़्यादा थी कि सोचा साथियों से साझा करूँगी तो शायद कुछ कम होगी लेकिन ऐसा भी नहीं हुआ। कई महीने बीत चुके हैं, लेकिन अब तक वह बेचैनी जस की तस है। हाँ, इस बीच उस बेचैनी में कुछ नए आयाम ज़रूर जुड़े हैं। उस रोज़ जो हुआ उसमें कुछ भी अनोखा नहीं था, रोज़ जैसा ही था फिर भी इस बेचैनी क्यों हुई इस कदर।

उस रोज़ मैं एक ऐसे स्कूल से लौट रही थी जहाँ मैं पहले भी चार-पाँच बार जा चुकी थी। उस स्कूल के लगभग सभी बाइस बच्चे मुझे और मैं उन्हें नाम से जानने लगे थे। हममें दोस्ती हो चुकी थी। पक्की वाली दोस्ती। मैं उन्हें कहानियाँ सुनाती, बदले में वह भी मुझे कहानियाँ सुनाते। बातें करते। उस रोज़ मैंने पाँचवीं कक्षा में कुछ समय बिताया। पाँचवीं कक्षा में नौ बच्चे हैं। सभी बच्चे 'पोटली' की किताबें पढ़ते हैं, 'पोटली' लाइब्रेरी का रजिस्टर बच्चे ही सम्भालते हैं। वह कहानियों को सिर्फ़ पढ़ते ही नहीं, समझकर पढ़ते हैं और उसपर बातचीत भी करते हैं।

उस रोज़ हमने लिखने वाला खेल खेला। मैंने उन्हें कहा कि उन पढ़ी हुई कहानियों में उन्हें क्या अच्छा लगा इस बारे में लिखें। मेरा अनुभव यह है कि इस तरह अपनी मर्ज़ी से लिखने को कहने पर बच्चों को अच्छा लगता है, ख़ासकर तब जबकि उन्हें पता हो कि उनके लिखे को लेखन त्रुटियों के लिए जाँचा नहीं जाएगा। सभी बच्चों ने लिखना शुरू किया। फिर एक-एक कर बच्चों ने अपना लिखा हुआ पढ़ना शुरू किया। लेकिन तीन बच्चे भुवन, सोमाली और रुद्र* कॉपी से सिर नहीं उठा रहे थे। ऐसा मालूम हो रहा था कि वह बहुत गम्भीर होकर कुछ लिख रहे हैं। जब सारे बच्चों ने अपना लिखा पढ़कर सुना दिया तब भी यह तीन बच्चे कॉपी में ही सिर घुसाए बैठे थे। मैंने प्यार से पूछा, "जितना लिखा है उतना ही दिखा दो..." तो उनके पास बैठे एक बच्चे ने कहा, "इनको लिखना नहीं आता, मैडम।" ऐसा कहने वाले बच्चे के चेहरे पर उपहास का हल्का-सा भाव था, जबकि उन तीनों बच्चों ने अपने सिर कॉपी में और छुपा लिए थे। मैंने मैडम की ओर देखा। मैडम ने बहुत सहजता के साथ कहा, "हाँ, इनको नहीं आता।" ऐसी सहजता और उपहास का वह भाव कुल मिलाकर मुझे बेचैन करने के लिए काफ़ी थे। लेकिन इससे ज़्यादा फ़िक्र मुझे इस बात की थी कि उन बच्चों को कैसा महसूस हो रहा होगा। उन्हें सहज करने के इरादे से मैंने कहा, "कोई बात नहीं, नहीं आता लिखना तो तुम मौखिक रूप से बताओ कि तुमने जो कहानी पढ़ी वह तुम्हें कैसी लगी।" बच्चे खड़े तो हो गए लेकिन बोले कुछ नहीं। उन सभी के हाथ में किताब थी लेकिन वह चुप थे। थोड़ी देर बाद भुवन ने कहा, "मैडम, हमें पढ़ना भी नहीं आता।"

मेरे लिए यह समझना मुश्किल था कि इन बच्चों को अपना नाम तक लिखना नहीं आता था और न ही वे किताब का शीर्षक पढ़ पा रहे थे। जबकि अपनी पिछली पाँच स्कूल विज़िट के दौरान मैंने इन बच्चों को काफ़ी सक्रिय और सीखने को उत्सुक पाया था। वह हर गतिविधि में बराबर शरीक होते थे, ख़ासकर भुवन। वह तो क्लास का मॉनिटर भी है। मैंने उसे किताबें पढ़ते हुए भी देखा है और एक बार तो उसने किताब को पलटते हुए पूरी कहानी भी सुनाई थी। मैंने जब पूछा, "तुम तो उस दिन कहानी सुना रहे थे ना किताब से", तो भुवन ने इत्मिनान से कहा, "वह तो मैं साथ वाले बच्चों को पढ़ते हुए सुनता हूँ तो समझ जाता हूँ कि किस पेज पर किस जगह क्या लिखा है... इसलिए।" अब भुवन मुस्करा रहा था। ऐसा लग रहा था कि उसने, बाक़ी दोनों बच्चों ने, कक्षा के बाक़ी बच्चों ने और शिक्षकों ने यह मान लिया था कि यह तीनों पढ़ना-लिखना नहीं सीख सकते। मैडम का कहना था कि "कुछ बच्चे नहीं ही सीख सकते और यह वही बच्चे हैं। सारे बच्चे सीख जाएँ ज़रूरी तो नहीं है न?" ऐसा मैडम मुझसे कह रही थीं या ख़ुद से पता नहीं, लेकिन मैं परेशान थी यह सोचकर कि जो बच्चा दोस्त को पढ़ते देखकर यह समझ जाता है कि किस पेज पर क्या लिखा है वह ख़ुद क्यों पढ़ना-लिखना सीख नहीं पा रहा है। यह बच्चे अकसर स्कूल से अनुपस्थित रहने वाले बच्चे भी नहीं हैं। भुवन की बड़ी-बड़ी आँखें, उसकी मुस्कराहट और आत्मविश्वास के साथ यह कहना, "मैडम हमको पढ़ना भी नहीं आता, लिखना भी नहीं आता" जैसे मेरी आत्मा को घायल कर रहा था। उसे स्कूल की व्यवस्था ने यह अच्छे से समझा दिया था कि कुछ बच्चे नहीं ही सीख पाते हैं और वह उन बच्चों में से है।

सच कह रही हूँ महीनों बाद भी यह सब लिखते हुए भुवन की आँखें मेरे सामने हैं। यह हर उस बच्चे की आँखें हैं जो पढ़ना-लिखना सीख पाने से दूर हैं, जो शिक्षा की रेल में एक अलग डिब्बे में सफ़र कर रहे हैं और कहीं भी कभी भी उतर जाएँगे। कोई कक्षा तीन के बाद स्कूल छोड़ सकता है, कोई चार के बाद तो कोई पाँच के बाद। व्यवस्था भी इनके यूँ स्कूल छोड़ जाने से बेचैन नहीं है क्योंकि यह बच्चे आँकड़े बिगाड़ते हैं। इस स्कूल में भुवन ने कक्षा एक में दाख़िला लिया था। आज वह उसी स्कूल से कक्षा पाँच पास करके जाने वाला है बिना लिखना-पढ़ना सीखे। हालाँकि लिखने-पढ़ने से इतर भुवन हिसाब का पक्का है, हर काम ठीक से करता है, नाटक, कविता, कहानी सबमें शामिल होता है।

अजीब मन है मेरा जो हमेशा ही (तथाकथित) हार गए, पिछड़ गए, हाशिये पर छूट गए लोगों के क़रीब जाकर बैठ जाता है। मैंने क्या किया, कितना कर पाई और आज भुवन अपना और दोस्तों का नाम लिखने लगा है— इस यात्रा पर बात करना बेमानी है क्योंकि सवाल तो इससे काफ़ी बड़ा है। ठीक इसी वक़्त, मुझे राजस्थान के एक साथी द्वारा सुनाया गया ऐसा ही अनुभव याद आता है। बच्चे का नाम दिलख़ुश था। वह ख़ूब शैतान था, इतना कि कक्षा में किसी को पढ़ने-लिखने नहीं देता, सब सामान बिखेर देता, सबसे झगड़ा करता और पढ़ता-लिखता बिल्कुल नहीं। यदि शिक्षक उसके अभिभावकों को बुलाकर कुछ कहते तो अभिभावक भी यह कहते हुए उसे पीटना शुरू कर देंगे कि घर पर भी यही करता है वह। फिर कुछ महीनों तक जब अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन की एक साथी ने उसके साथ काम किया तो पाया कि बच्चे का दिमाग़ बहुत तेज़ है और गणित में तो वह बेमिसाल है। फिर अल्मोड़ा की वह बच्ची याद आ गई जो नीरू मैडम का पल्ला पकड़े-पकड़े घूमती थी और किसी से बात नहीं करती थी। उसे भी पढ़ने-लिखने में कोई दिलचस्पी नहीं थी। फिर एक और बच्चा दिनेशपुर का याद आया जिसका स्कूल में आना व्यवस्था को ख़राब करने जैसा होता था। सिर्फ़ झगड़ा और गाली-गलौज करना ही उसका काम था। वह पढ़ता भी नहीं था और पढ़ना चाहता भी नहीं था। इसलिए बाक़ी बच्चों की कॉपी फाड़ता था या उनकी पेंसिल छुपा देता था। बाद में उस बच्चे के शिक्षक ने पाया कि उस बच्चे को भूख भर ख़ुराक ही नहीं मिल रही है, न घर पर न स्कूल में। उसकी भूख अन्य बच्चों से ज़्यादा थी और खाना उसे सबके बराबर मिलता था। फिर एक-एक कर न जाने कितने उदाहरण मेरी आँखों के सामने तैरने लगे। एक बच्ची जिसे दिखता कम था, एक जिसकी माँ की मृत्यु हो गई थी, एक बच्चा जिसके पिता शराब पीकर रोज़ माँ को पीटते थे या एक जिसका भाई उसकी किताबें फाड़ देता था।

यह सब बच्चे स्कूल जाकर भी सीख नहीं पा रहे थे। दिक़्क़त यह थी कि व्यवस्था के तहत यह मान लिया गया था कि कुछ बच्चे होते ही ऐसे हैं जो सीख नहीं पाते। या स्कूलों में इतना कम शिक्षक स्टाफ़ है और ऐसे हालात हैं कि अलग से इन बच्चों पर काम करने के बारे में सोचना भी मुश्किल है। यह तर्क सही हो सकते हैं, शायद होंगे भी, आँकड़ों में दर्ज सत्तर या अस्सी प्रतिशत बच्चों के सीख जाने से हम सन्तुष्ट भी हो लेंगे लेकिन उन बच्चों की आँखें पीछा करती रहेंगी जो सीखने की इच्छा से स्कूल में दाख़िल हुए थे।

सरकारी स्कूलों में जो बच्चे आते हैं व्यवस्था को उनके और उनके परिवेश के प्रति संवेदनशील होना कितना ज़रूरी है यह बात समझ में आती है। किसी भी तरह के सीखने की शुरुआत उसी संवेदना के बिन्दु से होती है जहाँ सीखने की इच्छा और सिखाने में स्नेह का मिलन होता है। अपने ही एक साथी की कही यह बात मुझे किसी भी तरह के सीखने-सिखाने को लेकर बताया गया मंत्र लगता है—पहले बच्चों के सिर पर हाथ रखो प्यार से, उनकी आँखों में देखो तो सही कितने सपने हैं वहाँ, उनसे दोस्ती तो करो फिर लिखना-पढ़ना अपने आप आ जाएगा। सोचती हूँ कि शिक्षा का इतना बड़ा तंत्र ऐसी भावुक बातों से तो नहीं चलने वाला, लेकिन फिर यह भी पाती हूँ कि हमारे शिक्षा के दस्तावेज़ों में भी इस संवेदना के लिए पूरी स्पेस है। यूँ ही नहीं सभी के लिए न्यायोचित शिक्षा, बच्चे पर केन्द्रित उसकी ज़रूरत पर आधारित शिक्षा, सीखने की प्रक्रिया में हर बच्चे की प्रतिभागिता की बात कही गई होगी। चाहे नेशनल एजुकेशन पॉलिसी हो या एनसीएफ 2005 या नेशनल करिकुलम फॉर एलीमेंटरी एंड सैकेंडरी एजुकेशन, सभी इन बातों की अनुशंसा करते हैं। अभी हाल ही में, 2005 की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एनसीएफ) ने एक व्यापक दृष्टिकोण प्रदान किया है, जिसमें सभी बच्चों को गुणवत्तापूर्ण समावेशी शिक्षा प्रदान करने के तरीक़े शामिल किए गए हैं। वह शिक्षकों द्वारा निम्नलिखित कामों को करने की ज़रूरत को स्पष्ट करती है :

- हर बच्चे की अनोखी ज़रूरतों के प्रति संवेदनशील होना
- बच्चे पर केन्द्रित, सामाजिक रूप से प्रासंगिक और न्यायोचित पढ़ाने/सीखने की प्रक्रिया प्रदान करना
- उनके सामाजिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों में विविधता को समझना।

यानी मामला सिर्फ़ भावुक होने का नहीं है उस मर्म को समझने का है जहाँ यह बातें सिर्फ़ दस्तावेज़ों में दर्ज होकर न रह जाएँ, बल्कि कक्षा में हर बच्चे के जीवन से संवेदना के धरातल पर

जुड़ सकें। बच्चों को, उनकी ज़रूरतों को उनके परिवेश को समझे बिना और उनके प्रति सम्मान का भाव लाए बिना इसे अमल में लाना मुश्किल है।

इसलिए जब कोई शिक्षक यह कहते हैं कि इन बच्चों के अभिभावक इनपर ध्यान नहीं देते, तो मुझे 'इन बच्चों' से और प्यार हो जाता है। और मैं शिक्षक साथियों से कहती हूँ कि सबका सीखना ज़रूरी है क्योंकि सीखना हक़ है सबका। ठीक उसी तरह जैसे जीवन पर हक़ है सबका। इस प्रक्रिया की शुरुआत की पहली पैडागौजी है कक्षा में आए हर बच्चे से मन का रिश्ता बना पाना, उनका सम्मान करना और अपनी प्रक्रियाओं में थोड़ा अतिरिक्त चौकन्नापन शामिल करना कि कहीं कोई छूट तो नहीं रहा।

**बच्चों की पहचान की रक्षा हेतु नाम बदल दिए गए हैं।*

प्रतिभा कटियार अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, देहरादून में हिन्दी भाषा और प्रकाशन के स्रोत व्यक्ति के तौर पर कार्यरत हैं। उन्होंने राजनीति विज्ञान में स्नातकोत्तर, एलएलबी और पत्रकारिता एवं जनसंचार में डिप्लोमा किया है। पूर्व में उन्होंने हिन्दुस्तान, पायोनियर, जनसत्ता, स्वतन्त्र भारत और दैनिक जागरण में बतौर पत्रकार कार्य किया है। लेखन के प्रति प्रतिभा का बेहद झुकाव है। वे कविताएँ कहानियाँ एवं यात्रा वृत्तान्त लिखती हैं। उन्हें 2010 में 'संगम हाउस' की फेलोशिप प्राप्त हुई। उन्होंने रूसी कवि 'मारीना त्स्वेतायेवा' की जीवनी लिखी है। वे न्यायसंगतता, समानता और मानवता में यक़ीन रखती हैं जो उनकी लेखनी और उनके कार्यों में प्रतिबिम्बित होता है। उनसे pratibhakatiyar@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।